© INNOVATIVE RESEARCH THOUGHTS | Refereed | Peer Reviewed | Indexed

ISSN : 2454 – 308X | Volume : 07 , Issue : 04 | October - December 2021

कौटिल्य अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में गौर्यकालीन न्याय व्यवस्था

डॉ० विजय देवी

E-mail : boorasurender08@gmail.com

• शोध–लेख सार

मौर्य साम्राज्य न्याय व्यवस्था के लिये प्रसिद्ध था। कौटिल्य का मत था कि उचित न्यात व्यवस्था करने के लिये सरकार द्वारा न्याय की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये ताकि लोगों के जीवन और सम्पति की रक्षा की जा सके। के अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन न्याय व्यवस्था का वर्णन करना भोप पत्र का मुख्य विशय है। मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिये अनेक न्यायालयों की सत्ता थी। सबसे छोटे न्यायालय ग्रामों के थे। ग्रामिक ग्रामवृद्धों के सौध मिलकर अपुरोधियों को दण्ड देते थे और उनसे जुर्माने वसूल करते थे ग्राम के न्यायालय से ऊपर संग्रहण न्यायालय के अन्तर्गत 10 गाँव होते थे। द्रोणमुख न्यायालय 400 ग्रामों को मिला कर बनाया जाता था। दोणमुख, स्थानीय न्यायालय में 800 गांव होते थे और जनपद–रान्धि के न्यायालय होते थे ग्राम न्यायालय से ऊपर दोणमुख न्यायालयों की (स्थानीय व खावंटिक न्यायालयों की) राता थी और उनसे ऊपर जनपद न्यायालय और पाटलिपुत्र में केन्द्रीय न्यायालय था।

मुख्य शब्द न्याय व्यवस्था, गौर्यकाल, न्यायालय, पैतृक संपत्ति

मौर्य साम्राज्य न्याय व्यवस्था के लिये प्रसिद्ध था।[1] कौटिल्य का मत था कि उचित न्याय व्यवस्था करने के लिये सरकार द्वारा न्याय की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये ताकि लोगों के जीवन और सम्पति की रक्षा की जा सके। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन न्याय व्यवस्था का वर्णन करना शोध पत्र का मुख्य विषय है। मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिये अनेक न्यायालयों की सत्ता थी। सबसे छोटे न्यायालय ग्रामों के थे। ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देते थे और उनसे जुर्माने वसूल करते थे [2] ग्राम के न्यायालय से ऊपर संग्रहण न्यायालय के अन्तर्गत 10 गाँव होते थे। दोणमुख न्यायालय 400 ग्रामों को मिला कर बनाया जाता था दोणमुख स्थानीय न्यायालय में 800 गांव होते थे और जनपद–सन्धि के न्यायालय होते थे।[3] ग्राम न्यायालय से ऊपर दोणमुख न्यायालयों की (स्थानीय व खार्बटिक न्यायालयो की सत्ता थी और उनसे ऊपर जनपद न्यायालय और पाटलिपुत्र में केन्द्रीय न्यायालय था सबसे ऊपर राजा का न्यायालय था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था।[4] ग्रामसंघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालय दो प्रकार के थे– धर्मस्थीय और कण्टक शोधन ये न्यायालय जनता की सुविधा के लिये राज्य के विभिन्न भागों में स्थापित थे [5] ार्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों को प्रवेष्टा कहा जाता था।[6] इनके न्यायाधीश अकेले न्याय कार्य नहीं करते थे। दोनों प्रकार के न्यायालयों में तीन–तीन धर्मस्थ और प्रदेष्टा न्यायधीश न्याय का कार्य करते थे। आधुनिक युग के न्यायालयों में भी प्रायः दो तीन या अधिक न्यायाधीश बेच के रूप में बैठ कर कार्य करते हैं।[7] दोषी को उस के दोष के अनुसार दण्ड दिया जाता था और निर्दोष को उसके अधिकार दिलाने के चेष्टा की जाती थी। न्याय के क्षेत्र में मध्यस्थता के सिद्धान्त को बहुत महत्व दिया जाता था। खुशी के अवसरों पर राजा कैदियों को छोड़ देता था।[8]

धर्मस्थीय न्यायालय

1 व्यवहार स्थापना– दो व अधिक व्यक्तियों या दो व अधिक व्यक्तिसमूहों या व्यक्ति और व्यक्तिसमूह में आपस के व्यवहार द्वारा उत्पन्न वाद व्यवहार स्थापना के अन्तर्गत आते थे। व्यक्ति आपस में अनेक प्रकार के व्यवहार करते थे। ये व्यवहार रूपये के लेन देन के सम्बन्ध में, परस्तर मिलकर कारोबार करने के विषय में, कोई ठेका लेने के बारे में और इसी प्रकार के कितने ही अन्य विषयों के सम्बन्ध में हो सकते थे। न्यायालय इन व्यवहारों को मान्य समझता था। कौटिल्य के

अनुसार ऐसे व्यवहार निषिद्ध व अमान्य होते थे जिन्हें किसी गुप्त स्थान, रात के समय, जंगल में या छलपूर्वक किया गया हो। इस प्रकार के अमान्य व्यवहारों के कर्ता और कारयिता (कराने वाले) दोनों के लिये श्पूर्वस्साहसदण्डश का विधान था। ऐसे व्यवहार के साक्षियों को इससे आधा दण्ड दिया जाता था जिन व्यवहारों का विषय विरासत में प्राप्त होनेवाली सम्पति का बंटवारा से होता, जो विवाह से सम्बन्ध किसी व्यक्ति (रोगिणी) या अनिष्कासिनी (परदे में रहने वाली) स्त्री से होता और जिन्हें अमूढ़ (जो मूढ़ या पागल न हो) व्यक्तियों ने किया हो, ऐसे व्यवहार यदि किसी घर में गुप्त रूप से भी किये गये होते थे, वे मान्य होते थे। छलपूर्वक किये गये केवल वही व्यवहार मान्य होंगे, जो गूढाजीवियों (गुप्तचरों) द्वारा किये जाते थें। व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले वादों का निर्णय साक्षियों के आधार पर किया जाता था।[9]

2. स्त्रीधन कल्पः स्त्रीधन में सम्बन्ध रखने वाले मुकदमों का निर्णय भी धर्मस्थीय न्यायालयों द्वारा किया जाता था स्त्रीधन के दो रूप थे वृति और आवध्य दो सहस्त्र से अधिक (पण) या इतने मूल्य की सम्पति जो स्त्री के निर्वाह चलाने के लिये उसके नाम कर दी जाती थी। इसी का वृति कहते थे आभूषण आदि की संज्ञा श्आवध्य थी। विवाह के समय प्रदान किये गये आभूषण व अन्य कीमती सामान भी स्त्रीधन माने जाते थे। इस स्त्रीधनं को स्त्री अपनी सन्तान और पुत्रवधू के भरण–पोषण में व्यय कर सकती थी। कुछपरिस्थितियों में पति को भी अपनी पत्नी के स्त्रीधन को खर्च करने का अधिकार था जैसे आकस्मिक विपत्ति आ जाने पर बीमारी में, दुर्भिक्ष पड़ जाने पर जिन पति–पत्नी का विवाह इन विवाहों अनुसार हुआ हो ब्राह्म प्राजापत्य, आर्य और दैव तो पति–पत्नी परस्पर सहमति से स्त्रीधन को खर्च कर सकते थे परन्तु गान्धर्व और आसुर विधियों से विवाह होने की दशा में पति–पत्नी को यह अधिकार नहीं था। यदि वह खर्च कर भी दे तो उनके लिये स्त्रीधन को सूदसहित वापस किया जाता था।[10]

3 विवाह सम्बन्धी विवाद कुछ परिस्थितियों में तलाक और पुनर्विवाह की भी अनुमति थी। यदि स्त्री बन्ध्या होती थी तो ऐसी स्त्री का पति पुनर्विवाह कर सकता था। उसे आठ वर्ष प्रतीक्षा करनी होती थी। यदि किसी स्त्री से केवल कन्याएँ ही उत्पन्न होती थी, तो उसका पति बारह साल के पश्चात् पुनर्विवाह का अधिकारी हो जाता था। इस नियम का उल्लंघन करने पर 24 पण या अधिक दण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई पति दुष्चरित्र या नीच होता या चिरकाल से विदेश गया हुआ होता या राजद्रोही होता या प्राणाभिहन्ता (कातिल) होता या पतित होता या नपुसक होता तो स्त्री को ऐसे पति को त्याग देने का अधिकार था। उपर्युक्त नियमों के अधीन किसी पुरूष ने पुनर्विवाह कर लिया होता, तो उसकी पहली पत्नी उससे भरण–पोषण के लिये स्त्रीधन प्राप्त कर सकती थी। इस धन की मात्रा कितनी होती, यह पति की आमदनी व स्थिति पर निर्भर होता था। परन्तु यदि इस दशा में स्त्री श्वसुर कुल की संरक्षा में रहती थी या पति से पृथक् हो जाती थी, तो उसे पति से भरण–पोषण का व्यय प्राप्त करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता था। यदि पति–पत्नी के प्रति या पत्नी पति के प्रति ईर्ष्यावश पारुष्य (क(कठोरता या कूरता) का बरताव करते, तो वह दण्डनीय था। यदि पत्नी पति के प्रति द्वेष भावना रखती, पति तलाक (मोक्ष) से सहमत नहीं होता था, तो स्त्री विवाह सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकती थी। इसी प्रकार यदि पति–पत्नी के प्रति विद्वेष रखता होता और पत्नी तलाक से सहमत नहीं होती थी तो पति विवाह सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकता था। परस्पर द्वेष के आधार पर ही तलाक (मोक्ष) सम्भव था। यदि पति के मना करने पर पर भी पत्नी मद्यपान में व्याप्त रहती और दर्प (घमण्ड) क्रीडाएँ करती, तो उस पर तीन पण जुर्माना किया जाता था। पति के मना करने पर यदि पत्नी दिन के समय स्त्रियों की प्रेक्षा देखने के लिये विहार (उत्सव) में सम्मिलित होने के लिये जाती थी तो उसे छः पण जर्माने का दण्ड दिया जाता था। यदि पुरुषों की प्रेक्षा व उत्सव देखने के लिये वह जाती थी, तो उस पर बारह पण जुर्माना किया जाता था। यही कार्य यदि वह रात के समय करती तो जुर्माने की मात्रा दुगुनी कर दी जाती थी। यदि कोई स्त्री और पुरूष (जो पति–पत्नी न होते) कोई ऐसी चेष्टा करती या ऐसे इशारे करती • जिनका प्रयोजन कामवासना की तृप्ति होता था या इसी उद्देश्य से एकान्त में बातचीत करती थी तो स्त्री पर 24 पण और पुरूष पर 48 पण जुर्माना किया जाता था। यदि किसी शंकित स्थान पर ऐसे कार्य करती थी तो जुर्माने के स्थान पर कोड़े लगाने का दण्ड दिया जाता था। आपत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी दशा में यदि कोई स्त्री अपने पति के परिवार को छोड़ कर चली जाती थी, तो उस पर छः पण जुर्माना किया जाता था। यदि पति द्वारा मना किये जाने पर भी वह बाहर जाती थी, तो जुर्माने की मात्रा बारह पण हो जाती थी। ति–पत्नी के सम्बन्ध में विवाद प्रस्तुत होते थे।[11]

4. दाय भाग और दायकम– जिस सन्तान के माता–पिता जीवित होते, पैतृक सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं माना जाता था। माता–पिता की मृत्यु के बाद ही पैतृक सम्पति के पुत्रों में विभाजित किया जाता था। परन्तु यदि पुत्र ने कोई सम्पत्ति स्वयं उपार्जित की होती थी तो उसका विभाजन नहीं किया जाता उत्तराधिकार उसी अंश में प्राप्त होता था, जो उनके लिये निश्चित किया गया होता था। चौथी पीढ़ी के अन्तर सब वंशजों का पितृपैतामह से चली आ रही सम्पत्ति पर समान अधिकार प्राप्त होता था। स्वयं उपार्जित सम्पति को पिता यदि अपने जीवनकाल में पुत्रों में विभक्त कर देता था तो वह किसी को विशिष्ट अंश प्रदान न करताऔर न विशेष कारण के बिना किसी को सम्पति के भाग से वंचित रखता, पिता की मृत्यु हो जाने पर उस समय के कानून के अनुसार बंटवारा होता था। नाबालिगों को जो सम्पत्ति विरासत में मिलती थी उसकी देख–रेख या तो उनके मामा करते थे और या ग्रामवृद्ध जो विदेशों में गये हुए होते थे, उनके लिये भी यह व्यवस्था थी। जो भाई अविवाहित होते थे तो उन्हें उतनी सम्पति (उनके विवाह व्यय के रूप में) अतिरिक्त प्रदान की जाती थी. जितना धन कि उनके विवाहित भाइयों के विवाह में खर्च हुआ होता था। जिस सम्पत्ति का कोई वारिस नहीं होता था, उस पर राज्य का स्वतन स्थापित हो जाता था। यद्यपि पैतृक सम्पति में सब पुत्रों के अंश एक समान होते थे, परन्तु ज्येष्ठ पुत्र को पिता की औदैहिक क्रियाएँ भी करनी होती थी, अतः उसे पैतृक सम्पत्ति में विशेष अश प्रदान करने की व्यवस्था थी पिता की मृत्यु हो जाने पर परिवार के भरण–पोषण और छोटे भाइयों व बहनों की उत्तरदागिता ज्येष्ठ पुत्र पर होता था अतः वह पैतृक सम्पत्ति में विशेष अंश प्राप्त करने का अधिकारी होता था। यह विशेष अंश उसे अधिकल रूप से तभी प्रदान किया जाता था. जब वह सुयोग्य होता था यदि ज्येष्ठ पुत्र मानवोचित गुणों से हीन होता था, तो वह ज्येष्ठांश (ज्येष्ठ पुत्र को दिये जाने वाले विशेष अंश) का केवल तृतीय भाग प्राप्त कर सकता था यदि वह अन्याय पूर्वक जीविका चलाता होता था, तो उसे ज्येष्ठांश का केवल चौथा भाग दिया जाता था।[12]

5 गृहवास्तुकम्– गृह (खेत) (बाग), पुल, बाँध, तालाब और जलाशय की वास्तुश संज्ञा थी इनके सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न होते थे उनका निर्णय साक्षी के आधार पर किया जाता था। यदि मकान मालिक किसी किरायेदार से मकान खाली करने को कहता था और यह खाली न करता था तो उसके लिये बारह पण जुर्माने की व्यवस्था थी परन्तु यदि किरायेदार मकान का किराया दे चुका होता था और तब भी मकान मालिक उसे मकान खाली करने के लिये कहता था तो यही जुर्माना मकान मालिक को देना पड़ता था। परन्तु यदि किरायेदार पारूष्य, चोरी, साहस या भगा ले जाने या मिथ्याभोग (जो स्वयं न हो, वह होने का दावा करना) का दोषी पाया जाता था तो किराया दे चुकने पर भी मकान मालिक उससे मकान खाली करा सकता था। यदि कोई किरायेदार स्वेच्छापूर्वक मकान खाली कर देता था तो उसे सालाना किराये का शेष भाग देना पड़ता था।यह आवश्यक था कि मकान इस ढंग से बनाये जाते थे कि उनसे गन्दा पानी उदक मार्ग में ही जाए।जिस मकान में यह व्यवस्था न हो, उसके मालिक पर 54 पण जुर्माना किया जाए।[13]

6. वास्तुविकय जब किसी वास्तु का विक्रय करना होता था तो उसके स्वामी के लिये आवश्यक था कि वह उसकी सीमाओं, विस्तार आदि की सही–सही सूचना ग्राम–वृद्धों और पड़ोसियों को दे दें। ऊँचीबोली बोलकर भू–सम्पति क्रय की होती थी तो उसे न बेचकर किसी अन्य को उसे बेच देने की दशा में विक्रेता पर 200 पण जर्माना किया जाता था। अन्य वादों जैसे सिंचाई के प्रयोजन के जल को अवरुद्ध करने, दूसरों की भूमि पर पुण्यस्थान, चौत्य, मन्दिर आदि बना लेना, रहन (आधान) रखी हुई भूमि या सम्पति को बचे देना, सड़कों व पथों में रुकावट डालनी और दूसरों के खेतों का कोई अंश अधिकृत कर लेना आदि विषयों को इन न्यायालयों में निर्णय के लिये प्रस्तुत किया जाता था।[14]

7. समयस्थानपाकर्म– स्वामी, कृषक, कर्मकर आदि के साथ जो संविदा या अनुबन्ध करते थे तो उसका अतिक्रमण स्वामी भी कर सकता था, और भृत्य व कर्मकर आदि भी अन्य लोग भी परस्पर व्यवहार करते हुए जो अनुबन्द करते थे तो उनके पालन व अतिक्रमण के विषय में अनेक प्रकार के विवाद हो सकते जिनकी निर्णय करना धर्मस्थीय न्यायालयों का ही कार्य था। [15]

ऋणादानम् महाजन और कर्जदार ऋण देने लेने के विषय में जो अनुबन्ध करते थे, वे भी राज्य
रा निर्धारित नियमों के अनुकूल ही किये जाते थे। यदि कोई महाजन उस समय सूद की माँग करने लगताथा जबकि वह

प्रदेय न होता या सूद को मूल में मिलीकर उसे मूल बताने लगता तो उस पर विवादग्रस्त राशि का चार गुना जर्माना किया जाता था। यदि कोई कर्जदार सूद देने के लिये जाता था और महाजन उसे लने से इन्कार करता, तब उस पर बारह पण जुर्माना किया जाता था। यदि कोई महाजन दस साल तक ऋण की उपेक्षा करता, तो उसे ऋण की राशि पर कोई अधिकार नहीं रह जाता था। पर यदि महाजन नाबालिग होता युद्ध होता. रोगी होता, विपद्ग्रस्त होता. परदेश गया हुआ होता या राज्य में अव्यवस्था होने के कारण कहीं अन्यत्र गया हुआ होता. तो दस वर्ष की अवधि के बीत जाने पर भी वह ऋण को बतूल कर सकता है। उनका निर्णय साक्षियों के आधार पर किया जाता था।[16]

9 औपनिधिकम्– जो सम्पति किसी के पास अमानत के रूप में रखी गई होती थी उसे वापस करना उसका कर्तव्य था परन्तु कुछ परिस्थितियों में अमानत रखी हुई सम्पति को वापस लौटाना सम्भव नहीं रहता था। यदि शत्रु सेना द्वारा दुर्ग और राष्ट्र का ध्वंस गया होता था या आक्रान्ताओं ने ग्रामों को नष्ट कर दिया होता, या बाद अथवा अग्नि से भू–सम्पति का नाश हो गया होता, या माल से लदा हुआ जहाज पानी में डूब गया होता अथवा उसे डाकुओं ने लूट लिया होता, तो इन दशाओं में अमानत की राशि को वापस करने की उतरदायित्व उस व्यक्ति पर नहीं रह जाता था, जिसके पास वह अमानत रखी गई होती थी। अमानत रखी हुई सम्पति का यदि उपयोग कर लिया जाता था, तो उस को वारण पण दण्ड देना पड़ता था। अमानत रखी हुई सम्पति यदि नष्ट हो जाती थी तो उसकी क्षतिपूर्ति तो करनी ही होती थी, साथ में 24 पण जुर्माना भी देना पड़ता था।[17]

10. सम्भूय समुत्थानम्– वणिक प्रभृति जब मिलकर कार्य करते, तब उन्हें सम्भूयसमुत्थान कहा जाता है। मुनाफे को दृष्टि में रखकर जब सामूहिक रूप से कार्य किया जाता था, तो उसका आधार वह धन (प्रक्षेप) होता था जिसे समूह में सम्मिलित वणिक अपनी ओर से लगाएँ (प्रक्षेप करें)। सम्भूयसमुत्थान से जो लाभ होता था. उसका विभाजन इसी प्रक्षेप के अनुसार किया जाता था। नारद स्मृति का यह कथन सम्भूयसमुत्थान के स्वरूप को भली भांति स्पष्ट कर देता है कि व्यापारी लोग जहाँ व्यापार के लिये परस्पर मिलकर कार्य करते थे, वहाँ कर्मकर, कृषक आदि भी अपने समूह बनाकर कार्यों को सम्पादित करते थे। कर्मकर, कृषक आदि जब मूल रूप से कार्य करते तो अपनी आमदनी को या तो ये समान रूप से आपस में विभक्त कर लेते थे और या जिस ढंग से उन्होंने तय किया होता था। जब कोई माल तैयार किया जा रहा होता तो जिसने जितना कार्य किया होता था उसे उसी के अनुसार अंश प्रदान किया जाता था सामूहिक रूप से प्रारम्भ किये गये कार्यों में सम्मिलित कोई मनुष्य यदि स्वस्थ होते हुए भी काम को बीच में छोड़ कर चला जाता था तो उसे 12 पण जुर्माने की सजा दी जाती थी। यदि कोई कामचोर होता था तो पहली बार उसे माफ कर दिया जाता था, और काम के अनुरूप अंश प्रदान करने का वचन देकर उसे पुनः कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता था। यदि वह पुनः कार्य में प्रमाद करता तो पहली बार उसे माफ कर दिया जाए। यदि वह पुनः कार्य में प्रमाद करता तो उसे समूह से निकाल दिया जाता था। जो कोई गम्भीर अपनराध करता था तो उसके प्रति अपराधियों जैसा व्यवहार किया जाता था। याजक भी परस्पर मिलकर सामूहिक रूप से कार्य करते थे। प्राप्त हुए धन का उनमें किस प्रकार विभाजन कियजाता था. इस विषय में भी अनेक नियमों का चाणक्य ने प्रतिपादन किया है। इन सब विषयों के विवाद भी धर्मस्थीय न्यायालय में प्रस्तुत किये जाते थे।[18]

11. विक्रीतक्रीतानुशयरू– क्रय–विक्रय के सम्बन्ध में अनेक नियम मौर्य युग में विद्यमान थे बिके हुए माल को यदि विक्रेता क्रेता के सुपुर्द करने से इन्कार करता तो उसपर 12 पण जुर्माना किया जाता था। परन्तु यदि इसका दोष, उपनिपात या अविषा होता था तो विक्रेता दण्ड का भागी नहीं होता था। दोष का अभिप्राय माल में कोई दोष होने से होता था। उपनिपात से ऐसी बाधा अभिप्रते थी जो राजा, चोर अग्निया जल द्वारा उत्पन्न हुई होती थी। श्अविषाश का अभिप्राय ऐसे माल से था जो गुणहीन होता था जिसे किसी रूग्ण व्यक्ति ने तैयार किया हुआ होता था। यदि खरीदार खरीदे हुए माल को लेने से इनकार करता था तो उसके लिये भी 12 पण जुरमाने की सजा थी। परन्तु इसका कारण दोष, उपनिपात या अविषडा होता. तो उसे जुर्माना नहीं देना पड़ता था। पशुओं और जीव–जन्तुओं के क्रय–विक्रय के विषय में भी अनेक नियम थे। यदि कुण्ठ व अन्य व्याधि से पीडित या अशुधि पशु को स्वस्थ और शुचि बताकर बेचा जाता था, तो विक्रेता

पर जुर्माना किया जाता था। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से नियमों का उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किये हैं।[19]

12. अस्वामिविक्रय– यदि कोई किसी ऐसी सम्पत्ति को बेचने का प्रयत्न करता था जिस पर उसका स्वामित्व न होता था तो उसे दण्ड दिया जाता था। उस विक्रेता का भी पता लग जाता था, जिसने उस सम्पति को बेचा था तो उसने न केवल उसका मूल्य वसूल किया जाता था बल्कि उसे दण्ड भी दिया जाता था। कोई व्यक्ति किसी सम्पति के विषय में यह दावा करता कि यह उसकी सम्पति है जो चोरी हो गई थी, परन्तु वह उस सम्पति पर अपने स्वत्व को सिद्ध न कर सकता, तो उस पर उस सम्पति के मूल्य का पाँच गुना जुर्माना किया जाता था। यदि वह उस सम्पति पर अपने स्वत्व को सिद्ध कर देता था तो वह उसके सुपुर्द कर दी जाती थी। चोरी हुई सम्पति को उसका स्वामी तभी अपने स्वत्व में ले सकता था. जब वह ऐसा करने के लिये राज्य को अनुमति प्राप्त कर लेता था।[20]

13.स्वस्वामि सम्बन्ध यदि कोई स्वामी दस वर्ष तक निरन्तर अपनी सम्पति की उपेक्षा करता रहताथा और इस अवधि में अन्य व्यक्ति उस सम्पत्ति का उपभोग करता रहता तो स्वाभी का ऐसी सम्पति पर कोई स्वत्व नहीं रह जाता था। परन्तु इसके कुछ अपवाद भी थे, जैसे स्वामी का नाबालिग होना, वृद्ध होना, रोगी होना, विपदग्रस्त होना, प्रवासी होना और राजकीय अव्यवस्था के कारण देश का त्याग कर अन्यत्र चले जाना आदि।

14 साहसम्– कौटिल्य का यह मत था कि अपराध के अनुरूप ही दण्ड दिया जाना चाहिए। जो किसी स्त्री या पुरुष को पकड़कर जबर्दस्ती बन्धन में रखे या रखने में सहायता करता तो उस पर 500 पण से 1000 ष्पण तक जुर्माना किया जाता था और उसे दण्ड भी दिया जाता था।[21]

15. वाकूपारू,यम्– किसी के शरीर स्वभाव, योग्यता, या पेशे और जनपद की निन्दा की जाती थी। यदि वह निन्दा सच होती, तो तीन पण जुर्माने की सजा दी जाती थी। यदि वह निन्दा झूठी होती तो छः पण दण्ड दिया जाता था। दूसरों की स्त्रियों की निन्दा करने पर दुगना जुर्माना किया जाता था। पर यदि बदनामी प्रमाद, मद, मोह आदि के कारण की जाती थी, तो दण्ड की मात्रा आधी ली जाती थी।[22]

16. दण्डपारू यम्– नाभि के नीचे के अंगो को पर यदि कोई कीचड़, राख आदि फेंकता था तो तीन पण की सजा दी जाती थी। नाभि के नीचे के अंगों को पैर विष्टा आदि अमेच्य वस्तुओं से स्पर्श किया जाता, तो 6 पण जुर्माना किया जाता था। नाभि के ऊपर के अंगों पर इसी प्रकार के स्पर्श से जुर्माने की मात्रा दुगनी हो जाती थी और सिर को स्पर्श करने पर चार गुनी। यदि किसी को हाथ से मारा जाए तो 3 पण से 12 पण तक जुर्माना किया जाता था और पैर से मारने पर इससे दुगना दण्ड दिया जाता था। किसी के घर में दुःखोत्पक वस्तु के फेंकने पर 12 पण जुर्माने का विधान था। बड़े पशुओं को इसी प्रकार के आघात करने पर दुगना जुर्माना देना पड़ता था और साथ ही क्षतिपूर्ति भी करनी होती थी। नगर के समीप छायादार वृक्षों, फूलवाले और फल वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों की डाल को तोड़ने पर 6 पण, शाखाएँ तोड़ने पर 12 पण और तना तोड़ने पर पूर्वस्साहस दण्ड का विधान था।[23]

17. द्यूतसमाध्यम् द्यूत के सम्बन्ध में यह व्यवस्था थी कि जुए केवल उन्हीं स्थानों पर खेला जा सकता था जो कि इसके लिये नियमित थे। अन्यत्र जुआ खेलने पर 12 पण जुर्माने का विधान था। जुआ खेलते हुए कूटकर्म करने पर पूर्वस्साहस दण्ड की व्यवस्था थी। साथ ही, उसने जो कुछ जीता होता उसे भी जब्त कर लिया जाता था और उसे दण्ड दिया जाता था। जुए में जो राशि जीती जाती थी, उसका 5 प्रतिशत राज्य प्राप्त कर लेता था।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में धर्मस्थों के कतिपय अन्य कार्य भी थे देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बाल, वृद्ध, रोगी, अनाथ आदि के हितों को उन्हें दृष्टि में रखना चाहे ये मामले उनके न्यायालय में मुकदमें के रूप में प्रस्तुत न भी किये गये होते थे। विद्या बुद्धि पौरूप आदि की दृष्टि से जो व्यक्ति विशेषताएँ रखते होते थे उनका यथोचित सम्मान करना भी धर्मस्थों का कार्य था। धर्मस्थों के लिये कौटिल्य का यह आदर्श था कि धर्मस्थों की सबके प्रति समदृष्टि होनी चाहिये, सबका विश्वास उन्हें प्राप्त होना चाहिये, जनता में वे लोकप्रिय होने चाहिये और बिना किसी छल–कपट के उन्हें अपने कार्यों को सम्पादित करना चाहिए।[25]

संदर्भ

1 विद्यालकार सत्यकेतु मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 201
2 कौ० अर्थ० 3 / 10
3 को० अर्थ० 3/11
4 विद्यालकार सत्यकेतु, मौर्य साम्राज्य का इतिहास पृ० 236 द्य
5 भगवती प्रसाद पाथरी, मौर्य साम्राज्य का इतिहास मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 122
6 कौ० अर्थ० 4 / 1
7 विद्यालकार सत्यकेतु मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 2371
8 भगवती प्रसाद पांथरी, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० 123
9 कौ० अर्थ० रू 3/1|
10 कौ० अर्थ० 3/2|
11 कौ० अर्थ० 3/3 |
12 कौ० अर्थ० 3/5|
13 कौ० अर्थ० 3/8|
14 कौ० अर्थ० 3/9|
15 कौ० अर्थ० 3/10|
16 कौ० अर्थ० 3/11।
17 कौ० अर्थ० 3/12|
18 कौ० अर्थ० 3 / 14।
19 कौ० अर्थ० 3/15।
20 कौ० अर्थ० 3/16। 21 कौ० अर्थ० 3/17।
22 कौ० अर्थ० 3/18|
23 कौ० अर्थ० 3/19।
24 जव 3तमवि 3/201
25 विद्यालंकार सत्यकेतु मौर्य साम्राज्य का इतिहास पृ० 239 |